वामपंथ या रामपंथ

ए.के. राय

आर्थिक संकट तथा राजनीतिक अस्थिरता के बीच इस साल का मध्यावधि चुनाव मजदूर वर्ग के सामने बहुत से सवाल लेकर आया है। पहले मजदूर अपनी मांगों के लिए लड़ते थे। आज वे अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं। इस परिवर्तन का कारण कौन-सी कमजोरी है, जिसने उन्हें राजनीति के केन्द्र से किनारे की ओर ढकेल दिया? वर्तमान मजदूर कई औद्योगिक क्रांति की संतान है, जिसने संसार में पूंजीवादी युग की शुरुआत की। पहले भी गरीब मेहनतकश थे, लेकिन वे ऐसे औद्योगिक मजदूर नहीं थे, जो समाज को बदल सकते हैं। एक जमाना था, जब मजदूर वर्ग भारत सहित सारी दुनिया में नये इतिहास की रचना करता था। पेरिस कम्यून (1871), मई दिवस (1886), सोवियत क्रांति (1917), भारत में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरुद्ध हड़ताल (1908), शोलापुर कम्यून (1927) और आजाद हिन्द फौज के मुद्दे पर नौ सैनिकों की बगावत का समर्थन भी उल्लेखनीय है। भारत आजाद हुआ। उसकी स्वर्ण जयंती भी हमने मनायी। लेकिन, क्या हम उस इतिहास को आगे बढ़ा पाये? या हम एक कदम आगे जाने के बजाय दस कदम पीछे चले गये हैं?

हर साल हम मई दिवस धूमधाम से मनाते हैं। इस साल भी मनाया गया। बहुत से अनुष्ठान हुए। मजदूर वर्ग के त्योहार के रूप में यह संसार का सबसे बड़ा त्योहार है। औद्योगिक क्षेत्र में आम छुट्टी भी रहती है। फिर भी सभा में न तो मजदूर उतने जुटते हैं, न ही पूर्व की भांति रौनक रहती है। समर्पित भावना भी नहीं, इस शहादत का इतिहास जिसकी अपेक्षा हमसे करता है। क्या हम मजदूर अपना इतिहास भूलते जा रहे हैं और सिर्फ तात्कालिक लाभ और लोभ के साथ हम अपने दूरगामी हितों का समझौता करते जायेंगे?

1991 में नयी आर्थिक तथा औद्योगिक नीति लागू होने के बाद मजदूरों पर चौतरफा चोट पड़ने लगी है। मिली हुई राहत और सुविधाएं छीनी जाने लगी हैं। पूंजीपतियों के लिए छूट और श्रमपतियों के लिए छंटनी, यही नया विधान है। यह मजदूर वर्ग के विरुद्ध एक युद्ध घोषणा है, जिसे औद्योगिक क्षेत्र में बगावत की आग फैलाना चाहिए था, लेकिन यह हुआ नहीं। सार्वजनिक क्षेत्र में हड़ताल का आह्वान हुआ, लेकिन जहां निजीकरण की तलवार गर्दन काटनी शुरू कर चुकी है, वहां भी सफलता आंशिक रही। सरकार भी अपनी मजदूर विरोधी नीति को सही ठहराते हुए मिशाल के रूप में लगातार श्रम दिवस हानि की कमी का आंकड़ा पेश करती है। 1991-92 में 3.46 करोड़, 1992-93 में 2.30 करोड़, 1993-94 में 2.01 करोड़, 1994-95 में 1.92 करोड़, 1995-96 में 1.80 करोड़। क्या हम मजदूरों ने लड़े बिना ही हमले के सामने हथियार डाल दिये हैं?

सबसे अहम् चीज जो परेशानी का कारण है, वह है मजदूर वर्ग का राजनीतिक आचरण। इसकी झलक हमें 11वीं और 12वीं लोकसभा के चुनावों में देखने को मिल चुकी है। नयी आर्थिक तथा औद्योगिक नीति आने के बाद मजदूरों की प्रायः सभी लड़ाई राजनीतिक बन गयी है। मामूली आर्थिक सवाल पर भी सरकार की मंजूरी लेनी पड़ती है। सिर्फ भ्रष्टाचार की आजादी छोड़कर और कोई आजादी स्थानीय प्रबंधन की नहीं रह गयी है। नयी आर्थिक नीति की जनक कांग्रेस और पालनकर्ता भाजपा है, जबकि वामपंथी दलों ने हमेशा उसका विरोध किया है। इसलिए आशा थी कि स्थिति बदलने के लिए मजदूर वर्ग लड़कर वामपंथियों को सत्ता में लायेंगे, लेकिन, यह हुआ नहीं। उल्टे जिन औद्योगिक क्षेत्रों में पहले वामपंथी जीतते थे, वहां से भी वे साफ हो गये और वही शक्ति विजयी होकर सामने आ गयी, जो मजदूरों के लिये नयी आर्थिक नीति की बेड़ी लेकर आयी थी। चार महानगर तो हाथ से निकल ही गये, साथ ही साथ हावड़ा, जमशेदपुर, रांची, धनबाद, कानपुर, फरीदाबाद, अहमदाबाद, भिलाई, बैंगलूर, कोयंबटूर आदि भी, जहां निर्णायक वोट संगठित क्षेत्र के मजदूरों का ही है।

मजदूरों ने, विशेष कर संगठित क्षेत्र के अपने मित्र वामपंथियों (जिन्होंने उनके लिए लड़ाई की) का साथ नहीं देकर, उनका साथ दिया, जिन लोगों ने हमेशा उन्हें दबाने की कोशिश की। यह एक अजीबो-गरीब स्थिति है। इससे वैसे लोगों को तो खुशी होगी, जो मजदूर वर्ग सह-वामपंथियों को राजनीति के किनारे पर देखना चाहते हैं, लेकिन वैसे लोगों के लिए, जो मजदूर वर्ग को राजनीति केन्द्र में देखना चाहते हैं, यह एक गंभीर चिन्ता का कारण होगा। यह कौन-सी बीमारी है, जिसमें लोग अपने हित के विपरीत काम करके अपने आपको दबाने के लिए विरोधी को मदद करते हैं? सबसे बड़ी बात, क्या इस 13वीं लोकसभा चुनाव में भी इसकी पुनरावृत्ति होगी? मध्यावधि चुनाव का यह एक अहम् सवाल है।

मजदूर वर्ग के इस अंतःविरोधी आचरण की व्याख्या उनके संगठन तथा कार्यक्रम के अन्दर मिल सकती है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 83.85 करोड़ थी, जिसके 34.10 प्रतिशत (28.56 करोड़) काम करते थे। 1981 में यह प्रतिशत 33.45 तथा 1971 में 32.9 था, जबकि एशिया के औसतन 40 प्रतिशत और यूरोप के 50 प्रतिशत से ज्यादा है। काम करने वाले में 90.66 प्रतिशत (25.94 करोड़) असंगठित क्षेत्र में तथा 9.34 प्रतिशत (2.62 करोड़) संगठित क्षेत्र में है। 1989 में सार्वजनिक क्षेत्र में 1.85 करोड़, जिसमें केन्द्रीय सरकारी कर्मचारी 33.56 लाख तथा राज्य. सरकार के कर्मचारी 68.9 लाख थे और निजी क्षेत्र में 78 लाख काम करते थे। कारखाना अधिनियम के अनुसार 1991 में भारत में कुल पंजीकृत कारखानों की संख्या 234345 थी, जिनमें 8494000 लोग काम करते थे, जिन्हें औद्योगिक मजदूरों की संज्ञा दी जा सकती है और जो कुल कामगारों का सिर्फ 3 प्रतिशत है। इसका अर्थ है कि तमाम योजनाओं के बावजूद सक्रिय जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा कृषि तथा आकस्मिक (कैजुअल) कार्यों में लगा हुआ है, जिसका कोई सही रिकार्ड नहीं है। 1987 में भारत में कुल ट्रेड यूनियनों की संख्या 46218 थी और सदस्यता 63.29 लाख, अर्थात् कुल कामगारों का मात्र 2 प्रतिशत। भला इतनी छोटी मात्रा इतने बड़े शरीर को कैसे चलायेगी?

अब ठेका मजदूरों को ठेकेदारी में ही जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि उद्योगों को आयातित टेक्नोलॉजी द्वारा सफेदपोशों के हवाले कर दिया गया है, जहां सिर्फ गांव के जमीन वाले मध्यम वर्ग या शहर के पैरवी वाले चालाक वर्ग के लोग घुस सकते हैं। ये सुविधाभोगी होने के नाते परिवर्तन विरोधी, श्रम विरोधी तथा आत्मकेन्द्रित होते हैं, जो दक्षिणपंथी राजनीति का वाहक है। इसलिए हम पुराने मजदूरों को औद्योगिक क्षेत्र में वामपंथी या उसके समर्थक पाते हैं, पर नयी पीढ़ी इसके विपरीत है। और जैसे-जैसे पुराने लोगों की जगह नये लोग आ रहे हैं, औद्योगिक क्षेत्र में वामपंथ का असर घट रहा है। दरअसल आज संगठित और असंगठित मजदूर की दो जाति बन गयी है, जिसके साथ समाजवादी राजनीति और वामपंथ का मेल कैसे हो सकता है? भले ही सामंती समझ के साथ रामपंथी का मेल हो। इसलिए लाजमी है कि वहां इंकलाब की जगह जय श्रीराम का नारा उठेगा।

लेकिन प्रश्न औद्योगिक मजदूरों के आकार का नहीं, बल्कि उनके वजन का है, जो उनके आचरण तथा विचार पर निर्भर करता है। चरित्र का सवाल यहां मुख्य है। संख्या कम होने से भी संगठित औद्योगिक मजदूर ही तमाम कामगारों का नेता है। इसलिए सिर को शरीर से अलग करने का प्रयास है। इसी उद्देश्य से नयी आर्थिक नीति के तहत संगठित और असंगठित मजदूरों के बीच की खाई को बढ़ाया जा रहा है। संगठित और असंगठित क्षेत्र की टेक्नोलॉजी अलग है। एक पूंजी केन्द्रित, दूसरा श्रम केन्द्रित। यही कारण है कि दोनों की उत्पादकता और वेतन अलग है। असंगठित क्षेत्र की न्यूनतम मजदूरी प्रतिदिन 35 रु. से 50 रु., जबकि संगठित क्षेत्र में 250 से 300 रु.। अर्थात संगठित क्षेत्र के मजदूर और अधिकारी के बीच वेतन का जो अन्तर है, उसकी तुलना में असंगठित क्षेत्र के मजदूरों और संगठित क्षेत्र के मजदूरों के बीच वेतन का अन्तर ज्यादा है। इसने संगठित क्षेत्र के मजदूरों के बीच दोहरा चरित्र पैदा किया है। काम करते वक्त काम की जगह आम कामगारों के साथ और बाहर में आर्थिक स्तर के कारण अधिकारियों के नजदीक। ऐसे लोग किसकी राजनीति करेंगे? नयी आर्थिक नीति तथा नया वेतन बोर्ड संगठित क्षेत्र के मजदूरों की संख्या कुछ वेतन बढ़ाकर और कम करना चाहता है। फिर गरीबों की राजनीति का नेतृत्व करेगा कौन?

बांटकर राज करना, शासक वर्ग का पुराना परिचित तरीका है। संगठित क्षेत्र के बिना असंगठित क्षेत्र अंधा है और असंगठित क्षेत्र के बिना संगठित क्षेत्र लंगड़ा है। अर्थात आपस में बंट कर रहने से दोनों असहाय तथा शासक वर्ग को चुनौती देने में अक्षम हैं। इसलिए इस विभाजन को पक्का करने के लिए समाज की बनावट, जिसमें उच्च वर्ग के लोग ज्यादा संगठित क्षेत्र में तथा दलित और पिछड़ा असंगठित क्षेत्र में पाये जाते हैं, के अलावा आयातित टेक्नोलॉजी के माध्यम से उद्योगों के सफेदपोशीकरण का सहारा लिया जा रहा है। पहले गांव के मेहनती गरीब ठेकेदारी में काम करते हुए शुरू में अस्थायी तथा बाद में स्थायी मजदूर बनते थे। ये असंगठित क्षेत्र की श्रम-संस्कृति को संगठित क्षेत्र में लाते थे। गरीबी का अनुभव भी उनके साथ रहता था, जो सर्वहारा चरित्र का आधार है। इसलिए पुराना औद्योगिक मजदूर परिवर्तनमुखी, श्रममुखी, समाजमुखी होता था। वह वामपंथी राजनीति का पोषक था। अब ठेका मजदूरों को ठेकेदारी में ही जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि उद्योगों को आयातित टेक्नोलॉजी द्वारा सफेदपोशों के हवाले कर दिया गया है, जहां सिर्फ गांव के जमीन वाले मध्यम वर्ग या शहर के पैरवी वाले चालाक वर्ग के लोग घुस सकते हैं। ये सुविधाभोगी होने के नाते परिवर्तन विरोधी, श्रम विरोधी तथा आत्मकेन्द्रित होते हैं, जो दक्षिणपंथी राजनीति का वाहक है। इसलिए हम पुराने मजदूरों को औद्योगिक क्षेत्र में वामपंथी या उसके समर्थक पाते हैं, पर नयी पीढ़ी इसके विपरीत है। और जैसे-जैसे पुराने लोगों की जगह नये लोग आ रहे हैं, औद्योगिक क्षेत्र में वामपंथ का असर घट रहा है। दरअसल आज संगठित और असंगठित मजदूर की दो जाति बन गयी है, जिसके साथ समाजवादी राजनीति और वामपंथ का मेल कैसे हो सकता है? भले ही सामंती समझ के साथ रामपंथी का मेल हो। इसलिए लाजमी है कि वहां इंकलाब की जगह जय श्रीराम का नारा उठेगा।

संगठित क्षेत्र को छोटा बनाकर, उसे टी.वी., फ्रिज, गाड़ी आदि के जरिये सुशोभित कर अंग्रेजी स्कूल और मम्मी-डैडी संस्कृति से लपेट कर, तंत्र-मंत्र, भाग्य व भगवानों द्वारा सुलाकर, गणेश जी को दूध पिलाकर, औद्योगिक क्षेत्र में सामाजिक क्रांति की जगह सामाजिक प्रतिक्रांति लाकर भले ही शासक वर्ग अपने को तत्काल खतरे से मुक्त महसूस करे, लेकिन समस्या का समाधान इससे नहीं हो रहा है। विदेशी पूंजी और आयातित टेक्नोलॉजी जमीन की श्रमशक्ति तथा श्रम संस्कृति का विकल्प नहीं हो सकती, बल्कि इन सबने क्रमशः ज्यादा विदेश निर्भर बनाकर देश में नैतिक संकट पैदा किया है। स्थायी सरकार की जगह देश को स्थायी अस्थिरता मिली है। मजदूर वर्ग का सिर जो वैसे ही शरीर की तुलना में छोटा है, को शासक वर्ग और छोटा कर अपनी जेब में रखना चाहता है जिससे बगावत न हो, लेकिन मंदी और बंदी को रोकेगा कौन? सार्वजनिक क्षेत्र की नीलामी के साथ अब टाटा का सीमेंट कारखाना का भी नीलाम हो रहा है।

स्वदेशी भाजपा आज विदेशी बन चुकी है, जैसा कि पेटेंट कानून ने दिखाया और राष्ट्रीय कांग्रेस भी 'बहुराष्ट्रीय'। अब रामराज्य भी विदेशी पूंजी से बनेगा। लेकिन आज सवाल खड़ा है कि देश का क्या होगा, जिसके विकास की चाभी गरीब जनता तथा मजदूर वर्ग के हाथों में है? और यदि मजदूर वर्ग न रहे तो शासक वर्ग भी नहीं रहेगा। आज इसलिए जरूरत है मजदूर वर्ग की ओर से एक स्पष्ट विकल्प के साथ क्रांतिकारी पहल की, मजदूर वर्ग ने जैसी पहल हर संकट में इतिहास में की है और जिसके लिए देश बेसब्री से इंतजार कर रहा है। मजदूर वर्ग की यह पहल अपने किसी स्वार्थ तथा सुविधा के लिए नहीं, बल्कि देश को विश्व व्यापार मंडल तथा ब्रहुराष्ट्रीय कंपनियों के बंधन से मुक्ति के लिए होगी, जो आज एक सही तीसरे मोर्चे की आधारशिला रखेगी। यही आज मध्यावधि चुनाव के सवाल का सही जवाब है।